

## १२. ग्रंथकी भाषा

प्रस्तुत ग्रंथ रचनाकी दृष्टिसे तीन भागोंमें बटा हुआ है। प्रथम पुष्पदन्ताचार्यके सूत्र, दूसरे वीरसेनाचार्यकी टीका और तीसरे टीकामें स्थान स्थान पर उद्धृत किये गये प्राचीन गद्य और पद्य। सूत्रोंकी भाषा आदिसे अन्त तक प्राकृत है और इन सूत्रोंकी संख्या है १७७। वीरसेनाचार्यकी टीकाका लगभग तृतीय भाग प्राकृतमें और शेष भाग संस्कृतमें है। उद्धृत पद्योंकी संख्या २२१ है जिनमें १७ संस्कृतमें और शेष सब प्राकृतमें हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वीरसेनार्यके सन्मुख जो जैन साहित्य उपस्थित था उसका अधिकांश भाग प्राकृतमें ही था। किन्तु उनके समयके लगभग जैन साहित्यमें संस्कृतका प्राधान्य हो गया और उनकी टीकामें जो संस्कृत-प्राकृतका परिमाण पाया जाता है वह प्रायः उन दोनों भाषाओंकी तात्कालिक आपेक्षिक प्रबलताका द्योतक है। इस समयसे प्राकृतका बल घट चला और संस्कृतका बढ़ा, यहांतक कि आजकल जैनियोंमें प्राकृत पठन पाठनकी बहुत ही मन्दता है। दिगम्बर समाजके विद्यालयोंमें तो व्यवस्थित रूपसे प्राकृत भाषाके पढ़ानेकी सर्वथा व्यवस्था रही ही नहीं। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत ग्रंथका परिचय कराते समय प्राकृत भाषाका परिचय करा देना भी उचित प्रतीत होता है। प्राकृत साहित्यमें प्राकृत भाषा मुख्यतः पांच प्रकारकी पाई जाती है---मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश।

महावीरस्वामीके समयमें अर्थात् आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जो भाषा मगध प्रांतमें प्रचलित थी वह मागधी कहलाती है। इस भाषाका कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं पाया जाता। किन्तु प्राकृत व्याकरणोंमें इस मागधी भाषाका स्वरूप बतलाया गया है और कुछ शिलालेखों और नाटकोंमें इस भाषाके उदाहरण मिलते हैं जिनपर से इस भाषाकी तीन विशेषताएं स्पष्ट समझ में जा जाती हैं --

१. र के स्थानमें ल, जैसे राजा-लाजा, नगर-णगल,
२. श, ष और स के स्थानपर श । जैसे, शम-शम, दासी-दाशी, मनुष-मनुश ।
३. संज्ञाओंके कर्ताकारक एकवचन पुल्लिङ्ग रूपमें ए । जैसे देवः देवे, नरः-णले,

उदाहरण--

अले कुंभीलआ । कहेहि, कहिं तुए एशे मणिबंधणुक्किणणामहेए लाअकीलए अंगुलीअए  
शमाशादिए । ( शकुंतला )

‘ अरे कुंभीलक ! कह, कहां तूने इस मणिबंध और उत्कीर्ण नाम राजकीय अंगुलीको  
पाया ’ ।

दुसरे प्रकारकी प्राकृत अर्धमागधी इस कारण कहलाई कि उसमें मागधीके आधे लक्षण  
पाये जाते हैं, क्योंकि, संभवतः वह आधे मगध देशमें प्रचलित थी। इसी भाषामें प्राचीन जैन  
सूत्रोंकी रचना हुई थी और अर्धमागधी इसका रूप अब श्वेताम्बरीय सूत्र-ग्रंथोंमें पाया जाता है,  
इसीलिये डॉ. याकोबीने इसे जैन प्राकृत कहा है। इसमें ष और स के स्थानपर श न होकर सर्वत्र  
स ही पाया जाता है, र के स्थानपर ल तथा कर्ता कारकमें ‘ए’ विकल्पसे होता है, अर्थात् कहीं  
होता है और कहीं नहीं होता, और अधिकरण कारकका रूप ‘ए’ व ‘म्मि’ के अतिरिक्त ‘अंसि’  
लगाकर भी बनाया जाता है।

उदाहरण :-

कोहाइ माणं हणिया य वीरे लोभस्स पासे निरयं महंतं ।

तम्हा हि वीरे विरओ वहाओ छिंदेज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥ ( आचारांग )

क्रोधादि व मान का हनन करके महावीरने लोभके महान् पाशको तोड डाला। इस प्रकार  
वीर वधसे विरत होकर भूतगामी शोकका छिन्दन करें।

सुसाणंसि वा सुन्नागारेंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलम्मि वा । ( आचारांग )

श्मशानमें या शून्यागारमें या गिरिगुफामें व वृक्षके मूलमें ( साधु निवास करे )

ये मागधीकी प्रवृत्तियाँ अर्धमागधीमें भी धीरे धीरे कम होती गई हैं ।

प्राचीन शूरसेन अर्थात् मथुराके आसपासके प्रदेशकी भाषाका नाम शौरसेनी है। वैयाकरणोंने इस भाषाका जैसा स्वरूप बतलाया है वैसा संस्कृत नाटकोंमें कहीं कहीं मिलता है, पर इसका स्वतंत्र साहित्य शौरसेनी दिगम्बर जैन ग्रंथोंमें ही पाया जाता है। प्रवचनसारादि कुंदकुंदाचार्यके ग्रंथ इसी प्राकृतमें हैं। कहा जा सकता है कि यह दिगम्बर जैनियोंकी मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा है। किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओंको लिये हुए होनेसे उसका वैयाकरणोंकी शौरसेनीसे पृथक्निर्देश करनेकेहेतु उसे 'जैन शौरसेनी' कहनेका रिवाज हो गया है। जैसा कि आगे चलकर बतालाया जाएगा, प्रस्तुत ग्रंथकी प्राकृत मुख्यतः यही है।

शौरसेनीकी विशेषताएँ ये हैं कि उसमें र का ल क्वचित् ही होता है, तीनों सकारों के स्थानपर स ही होता है, और कर्ताकारक पुल्लिङ्ग एकवचनमें ओ होता है। इसकी अन्य विशेषताएँ ये हैं कि शब्दोंके मध्यमें त के स्थानपर द, थ के स्थानपर ध, भ के स्थानपर कहीं कहीं ह और पूर्वकालिन कृदन्तके रूप संस्कृत प्रत्यय, त्वा के स्थानपर त्ता, इअ या दूण होता है। जैसे ---

सुतः- सुदो; भवति-भोदि या होई ; कथम्-कंध; कृत्वा-करित्ता, करिअ, करिदूण; आदि

उदाहरण --

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं राग-रहिदप्पा ।

एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ प्रवच. २, ८७.

णो सद्वहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगद-घादीणं ।

सूणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥ प्रवच. १, ६२.

अर्थात् आत्मा रागयुक्त होकर कर्म बांधता है तथा रागरहित होकर कर्मोंसे मुक्त होता है । यह जीवोंका बंधसमास है, ऐसा निश्चय जानो ।

घातिया कर्मोंसे रहित ( केवली भगवान् ) का सुख ही सुखोंमें श्रेष्ठ है, ऐसा सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं और जो भव्य हैं वे उसे मानते हैं ।

महाराष्ट्री प्राकृत प्राचीन महाराष्ट्रीकी भाषा है जिसका स्वरूप गाथासप्तशती, सेतुबंध, गउडवह आदि काव्योंमें पाया जाता है। संस्कृत नाटकोंमें जहाँ प्राकृतका प्रयोग होता है वहाँ पात्र बातचीत तो शौरसेनीमें करते हैं और गाते महाराष्ट्रीमें हैं, ऐसा विद्वानोंका मत है। इसका उपयोग जैनियोंने भी खूब महाराष्ट्री किया है। पउचचरिअं, समराइच्चकहा, सुरसुंदरीचरिअं, पासणाहचरिअं आदि काव्य और श्वेतांबर आगम सूत्रोंके भाष्य, चूर्णी, टीका, आदिकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। पर यहां भी जैनियोंने इधर उधरसे अर्धमागधीकी प्रवृत्तियाँ लाकर उसपर अपनी छाप लगा दी है, और इस कारण इन ग्रंथोंकी भाषा जैन महाराष्ट्री कहलाती है। जैन महाराष्ट्रीमें सप्तशती व सेतुबंध आदिकी भाषासे विलक्षण आदि व, द्वित्वमें न और लुप्त वर्णके स्थानपर य श्रुतिका उपयोग हुआ है, जैसा जैन शौरसेनीमें भी होता है। महाराष्ट्रीके विशेष लक्षण जो उसे शौरसेनीसे पृथक् करते हैं, ये हैं कि यहां मध्यवर्ती त का लोप होकर केवल उसका स्वर रह जाता है, किंतु वह द में परिवर्तित नहीं होता। उसी प्रकार थ यहां ध में परिवर्तित न होकर ह में परिवर्तित होता है, और क्रियाका पूर्वकालिक रूप ऊण लगाकर बनाया जाता है। जैन महाराष्ट्रीमें इन विशेषताओंके अतिरिक्त कहीं कहीं र का ल व प्रथमान्त ए आजाता है। जैसे ---

जानाति-जाणइ; कथम्-कहं; भूत्वा-होऊण; आदि ।

उदाहरणार्थ --

सव्वायरेण चलणे गुरुस्स नमिऊण दसरही राया ।

पविसरइ नियम-नयरि साएयं जण-धणाइण्णं ॥

( पउम. च. ३१, ३८, पृ. १३२. )

अर्थात् सब प्रकारसे गुरुके चरणोंको नमस्कार करके दशरथ राजा जन-धन-परिपूर्ण अपनी नगरी साकेतमें प्रवेश करते हैं ।

क्रमविकासकी दृष्टिसे अपभ्रंश भाषा प्राकृतका सबसे अन्तिम रूप है; उससे आगे फिर प्राकृत वर्तमान हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओंका रूप धारण कर लेती है। इस भाषापर भी जैनियों का प्रायः अपभ्रंश एकछत्र अधिकार रहा है। जितना साहित्य इस भाषाका अभीतक

प्रकाशमें आया है उसमेंका कमसे कम तीन चौथाई हिस्सा दिगम्बर जैन साहित्यका है। कुछ विद्वानोंका ऐसा मत है कि जितनी प्राकृत भाषाएँ थी उन सबका विकसित होकर एक एक अपभ्रंश बना। जैसे, मागधी अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि। बौद्ध चर्यापदों व विद्यापतिकी कीर्तिलतामें मागधी अपभ्रंश पाया जाता है। किन्तु विशेष साहित्यिक उन्नति जिस अपभ्रंशकी हुई वह शौरसेनी महाराष्ट्री मिश्रित अपभ्रंश है, जिसे कुछ वैयाकरणोंने नागर अपभ्रंश भी कहा है, क्योंकि, किसी समय सभवतः वह नागरिक लोगोंकी बोलचालकी भाषा थी। पुष्पदन्तकृत महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, तथा अन्य कवियोंके करकंडचरिउ, भविसयत्तकहा, सणकुमारचरिउ, सावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, इसी भाषाके काव्य है। इस भाषाको अपभ्रंश नाम वैयाकरणोंने दिया है, क्योंकि वे स्थितिपालक होनेसे भाषाके स्वाभाविक परिवर्तनको विकास न समझकर विकार समझते थे। पर इस अपमानजनक नामको लेकर भी यह भाषा खूब फली फूली और उसीकी पुत्रिया आज समस्त उत्तर भारतका काजव्यवहार सम्हाले हुए है।

इस भाषाकी संज्ञा व क्रियाकी रू परचना अन्य प्राकृतोंसे बहुत कुछ भिन्न हो गई है। उदाहरणार्थ, कर्ता व कर्म कारक एकवचन, उकारान्त होता है जैसे, पुत्रो, पुत्रम्-पुत्तु; पुत्रेण-पुत्ते; पुत्राय, पुत्रात्, पुत्रस्य-पुत्तहु; पुत्रे-पुत्ते, पुत्ति, पुत्तिहिं, आदि।

क्रियामें, करोमि-करउं; कुर्वन्ति-करहिं; कुरुथ-करहु, आदि।

इसमें नये नये छन्दोंका प्रादुर्भाव हुआ जो पुरानी संस्कृत व प्राकृतमें नहीं पाये जाते, किन्तु जो हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषाओंमें सुप्रचलित हुए। अन्त-यमक अर्थात् तुकबंदी इन शब्दोंकी एक बड़ी विशेषता है। दोहा, चौपाई आदि छन्द यहांसे ही हिन्दीमें आये।

अपभ्रंशक उदाहरण--

सुहु सारउ मणुयत्तणहं तं सुहु धम्मायत्तु ।

धम्मु वि रे जिय तं करहि जं अरहंतइं वुत्तु ॥

सावयधम्मदोहा ॥ ४ ॥

अर्थात् सुख मनुष्यत्वका सार है और वह सुख धर्मके आधीन है। रे जीव ! वह धर्म कर जो अरहंतका कहा हुआ है।

इन विशेष लक्षणोंके अतिरिक्त स्वर और व्यंजनसम्बन्धी कुछ विलक्षणताएं सभी प्राकृतोंमें समानरूपसे पाई जाती है। जैसे, स्वरोंमें ऐ और औ, ऋ और लृ का अभाव और उनके स्थान पर क्रमशः अइ, अउ, अथवा ए, ओ, तथा अ या इ का आदेश; मध्यवर्ती व्यंजनोंमें अनेक प्रकारके परिवर्तन व उनका लोप, संयुक्त व्यंजनोंका असंयुक्त या द्वित्वरूप परिवर्तन, पंचमाक्षर डः, ज् आदि सबके स्थानपर हलन्त अवस्थामें अनुस्वार व स्वरसहित अवस्थामें ण में परिवर्तन। ये परिवर्तन प्राकृत जितनी पुरानी होगी उतने कम और जितनी अर्वाचीन होगी उतनी अधिक मात्रामें पाये जाते हैं। अपभ्रंश भाषामें ये परिवर्तन अपनी चरम सीमापर पहुँच गये और वहांसे फिर भाषाके रूपमें परिवर्तन हो चला।

इन सब प्राकृतोंमें प्रस्तुत ग्रंथकी भाषाका ठीक स्थान क्या है इसके पूर्णतः निर्णय करनेका अभी समय नहीं आया, क्योंकि, समस्त धवल सिध्दान्त अमरावतीकी प्रतिके १४६५ पत्रोंमें समाप्त हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ उसके प्रथम ६५ पत्रोंमात्रका संस्करण है, अतएव यह उसका बाईसवां अंश है। तथा धवला और जयधवलाको मिलाकर वीरसेनकी रचनाका यह केवल चालीसवां अंश बैठेगा। सो भी उपलब्ध एकमात्र प्राचीन प्रतिकी अभी अभी की हुई पांचवीं छठवीं पीढीकी प्रतियोंपरसे तैयार किया गया है और मूल प्रतिके मिलानका सुअवसर भी नहीं मिल सका। ऐसी अवस्थामें इस ग्रंथकी प्राकृत भाषा व व्याकरणके विषयमें कुछ निश्चय करना बड़ा कठिन कार्य है, विशेषतः जब कि प्राकृतोंका भेद बहुत कुछ वर्णविपर्ययके ऊपर अवलम्बित है। तथापि इस ग्रंथके सूक्ष्म अध्ययनादिकी सुविधाके लिये व इसकी भाषाके महत्वपूर्ण प्रश्नकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करनेके हेतु उसकी भाषाका कुछ स्वरूप बतलाना यहां अनुचित न होगा।

१. प्रस्तुत ग्रंथमें त बहुधा द में परिवर्तित पाया जाता है, जैसे, सुत्रोंमें --गदि-गति; चदु-चतुः; वीदराग-वीतराग; मदि-मति, आदि। गाथाओंमें --पव्वद-पर्वत; अदीद-अतीत; तदिय-

तृतीय, आदि । टीकामें ---अवदारो-अवतारः; एदे-एते; पदिद-पतित; चिंतिदं-चिंतितम्; संटिदं-संस्थितम्; गोदम-गौतम, आदि ।

किन्तु अनेक स्थानोंपर त का लोप भी पाया जाता है, यथा--सूत्रोंमें--गइ-गति; चउ-चतुः; वीयराय-वीतराग; जोइसिय-ज्योतिष्क; आदि । गाथाओंमें-हेऊ-हेतुः; पयई-प्रकृति; आदि । टीकामें--सम्मइ-सम्मति; चउव्विह-चतुर्विध; सव्वघाइ-सर्वघाति; आदि ।

क्रियाके रूपोंमें भी अधिकतः ति या ते के स्थानपर दि या दे पाये जाते हैं । जैसे, ( सुत्रोंमें अत्थि के सिवाय दूसरी कोई क्रिया नहीं है ) गाथाओंमें-णयदि-नयति; छिज्जदे-छिद्यते; जाणदि-जानाति; लिंपदि-लिम्पति; रोचेदि-रोचते; सद्धदि-श्रद्धघाति; कुणादि-करोति; आदि । टीकामें-कीरदे, कीरदि-क्रियते; खिवदि-क्षिपति; उच्चदि-उच्यते; जाणदि-जानाति; परुवेदि-प्ररुपयति; वददि-वदति; विरुज्जदे-विरुध्यते; आदि ।

किन्तु त का लोप होकर संयोगी स्वरमात्र शेष रहनेके भी उदाहरण बहुत मिलते हैं यथा - गाथाओंमें -होइ, हवइ-भवति; कहेइ-कथयति; वक्खाणइ-व्याख्याति; भमइ-भ्रमति; भण्णइ-भण्यते, आदि । टीकामें-कुणइ-करोति; वण्णेइ-वर्णयति; आदि ।

२. क्रियाओंके पूर्वकालिक रूपोंके उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं-इय-छड्डिय-त्यवत्वा । तु - कटटु-कृत्वा । अ-अहिगम्म-अधिगम्य । दूण-अस्सिदूण-आश्रित्य । ऊण-अस्सिऊण, दट्टूण, मोत्तूण, दाऊण, चिंतिऊण, आदि ।

३. मध्यवर्ती क के स्थानमें ग आदेशके उदाहरण मिलते हैं । यथा--सूत्रोंमें-वेदग-वेदक । गाथामें - एगदेस-एकदेश, टीकामें-एगत्त-एकत्व; बंधग-बन्धक; अप्पाबहुग-अल्पबहुत्व; आगास-आकाश; जाणुग-ज्ञायक; आदि ।

किन्तु बहुधा मध्यवर्ती क का लोप पाया जाता है । यथा--सूत्रोंमें --सांपराइय-साम्परायिक; एइंदिय-एकेन्द्रिय; सामाइय-सामायिक; काइय-कायिक । गाथाओंमें-तित्थयर-तीर्थकर; वायरणी-व्याकरणि; पयई-प्रकृति; पंचएण-पंचकेन; समाइण्ण-समाकीर्ण; अहियार-

अधिकार । टीकामें-एय-एक; परियम्म-परिकर्म; किदियम्म-कृतिकर्म; वायरण-व्याकरण; भडारण-भडारकेण, आदि ।

४. मध्यवर्ती क, ग, च, ज, त, द और प के लोपके तो उदाहरण सर्वत्र पाये ही जाते हैं, किन्तु इनमेंसे कुछके लोप न होनेके भी उदाहरण मिलते हैं । यथा---ग---सजोग---सयोग; संजोग-संयोग; चाग-त्याग; जुग-युग; आदि । त-वितीद-व्यतीत । द-छदुमत्थ-छद्मस्थ, बादर-बादर; जुगादि-युगादि; अणुवाद-अनुवाद; वेद, उदार, आदि ।

५. थ और ध के स्थानमें प्रायः ह पाया जाता है, किन्तु कहीं कहीं थ के स्थानमें ध और ध के स्थानमें थ ही पाया जाता है । यथा-पुध-पृथक्: कधं-कथम्; ओधि-अवधि; ( सू. १३१ ) सोधम्म-सौधर्म ( सू. १६९ ) ; साधारण ( सू. ४१ ) ; कदिविधो-कतिविध; ( गा. १८ ) आधार ( टी. १९ )

६. संज्ञाओंके पंचमी-एकवचनके रू पमें सूत्रोंमें व गाथाओंमें आ तथा टीकामें बहुतायतसे दो पाया जाता है । यथा-सूत्रोंमें-णियमा-नियमात् । गाथाओंमें-मोहा-मोहात् । तम्हा-तस्मात् । टीकामें -णाणदो, पढमादो, केवलादो, विदियादो, खेतदो, कालदो, आदि ।

संज्ञाओंके सप्तमी-एकवचन के रू पमें म्मि और म्हि दोनों पाये जाते हैं । यथा-सूत्रोंमें-एकम्मि ( ३६, ४३, १२९, १४८, १४९ ) आदि । एक्कम्मि ( ६३, १२७ ) । गाथाओंमें-एक्कम्मि, लोयम्मि, पक्खम्मि, मदम्मि, आदि । टीकामें - वत्थुम्मि, चइदम्मि, जम्मि, आदि ।

दो गाथाओंमें कर्ताकारक एकवचनकी विभक्ती उ भी पाई जाती है । जैसे थावरु ( १३५ ) एक्कु ( १४६ ) यह स्पष्टतः अपभ्रंश भाषाकी और प्रवृत्ति है और उस लक्षणका शक ७३८ से पूर्वके साहित्यमें पाया जाना महत्वपूर्ण है ।

७. जहां मध्यवर्ती व्यंजनका लोप हुआ है वहां यदि संयोगी शेष स्वर अ अथवा आ हो तो बहुधा य श्रुति पायी जाती है । जैसे-तित्थयर-तीर्थकर; पयत्थ-पदार्थ; वेयणा-वेदना; गय-गत; गज; विमग्गया-विमार्गगाः, आहारया-आहारका; आदि ।

अ के अतिरिक्त 'ओ' के साथ भी और क्वचित् ऊ व ए के साथ भी हस्तलिखित प्रतियोंमें य श्रुति पाई गई है। किन्तु हेमचन्द्रके नियमका१ (१ अवर्णो य श्रुतिः ( ८, १, १८०, ) टीका-क्वचिद् भवति, पियङ् ॥ १८० ॥ ) तथा जैन शौरसेनीके अन्यत्र प्रयोगोंका२ (२ डॉ. उपाध्ये; प्रवचनसारकी भूमिका, पृ. ११५ ) विचार करके नियमके लिये इन स्वरोंके साथ य श्रुति नहीं रखनेका प्रस्तुत ग्रंथमें प्रयत्न किया गया है। तथापि इसके प्रयोगकी ओर आगे हमारी सूक्ष्मदृष्टि रहेगी। ( देखिए ऊपर पाठसंशोधनके नियम पृ.१३ )

उ के पश्चात् लुप्तवर्णके स्थानमें बहुधा व श्रुति पाई जाती है। जैसे-वालुवा-वालुकाः; बहुव-बहुकं विहुव-विधूत, आदि। किन्तु 'पज्जव' में विना उ के सामीप्यके भी नियमसे व श्रुति पाई जाती है।

८. वर्ण विकारके कुछ विशेष उदाहरण इस प्रकार पाये जाते हैं---सूत्रोंमें---अड्डाइज्ज-अर्धतृतीय (१६३) अणियोग-अनुयोग (५); आउ-अप् (३९); इड्डि-ऋद्धि (५९); ओधि, ओहि-अवधि (११५, १३१); ओरालिय-ओदारिक (५६); छदुमत्थ-छन्नस्थ (१३२); तेउ-तेजस (३९); पज्जव-पर्याय (११५); मोस-मृषा (४९); वेंतर-व्यन्तरय (९६); णेरइय-नारक, नारकी (२५); गाथाओंमें---इक्खय-इक्खाकु (५०); उराल-उदार (१६०); इंगाल-अंगार (१५१); खेत्तण्हू-क्षेत्रज्ञ (५२); चाग-त्याग (९२); फहय-स्पर्धक (१२१); सस्सेदिम-संस्वेदज (१३९)।

गाथाओंमें आए हुए कुछ देशी शब्द इस प्रकार हैं-कायोली-वीवध (८८); घुम्मंत-भ्रमत् (६३); चोक्खो-शुध्द (२०७); णिमेण-आधार ( ७ ); भेज्ज-भीरु; (२०१); मेर-मात्रा, मर्यादा (९०)।

टीकाके कुछ देशी शब्द--अल्लियइ-उपसर्पति (२२०); चडविय-आरुढ (२२१); छड्डिय-त्यक्त्वा (२२१); णिसुड्डिय-नत (६८) ; बोलाविय-व्यतीत्य (६८)।

इन थोड़ेसे उदाहरणोंपरसे ही हम सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा के विषयमें कुछ निर्णय कर सकते हैं। यह भाषा मागधी या अर्धमागधी नहीं है, क्योंकि, उसमें न तो अनिवार्य रूपसे, और विकल्पसे ही र के स्थान पर ल, व स के स्थानपर श पाया जाता, और न कर्ताकारक एकवचन में कहीं ए मिलता।

त के स्थानपर द, क्रियाओंके एकवचन वर्तमान कालमें दि व दे, पूर्वकालिक क्रियाओंके रूपमें तु व दूण अपादानकारककी विभक्ति दो तथा अधिकरणकारककी विभक्ति म्हि, क के स्थानपर, ग, तथा थ के स्थानपर ध आदेश, तथा द और ध का लोपाभाव, ये सब शौरसेनीके लक्षण हैं। तथा त का लोप, क्रियाके रू पोंमें इ, पूर्व कालिक क्रियाके रूपमें ऊण, ये महाराष्ट्रीके लक्षण हैं। ये दोनों प्रकारके लक्षण सूत्रों, गाथाओं व टीका सभीमें पाये जाते हैं। सूत्रोंमें जो वर्णविकारके विशेष उदाहरण पाये जाते हैं वे अर्धमागधीकी ओर संकेत करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है, उसपर अर्धमागधी का प्रभाव है, तथा उसपर महाराष्ट्रीका भी संस्कार पडा है। ऐसी ही भाषाको पिशेल आदि पाश्चमिक विद्वानोंने जैन शौरसेनी नाम दिया है।

सूत्रोंमें अर्धमागधी वर्णविकार का बाहुल्य है। सूत्रोंमें एक मात्र क्रिया 'अत्थि' आती है और वह एकवचन व बहुवचन दोनोंकी बोधक है। यह भी सूत्रोंके प्राचीन आर्ष प्रयोगका उदाहरण है।

गाथाएं प्राचीन साहित्यके भिन्न भिन्न ग्रंथोंकी भिन्न भिन्न कालकी रची हुई अनुमान की जा सकती हैं। अतएव उनमें शौरसेनी व महाराष्ट्रीपनकी मात्रामें भेद है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा जितनी अधिक पुरानी है उतना उसमें शौरसेनीपन अधिक है और जितनी अर्वाचीन है उतना महाराष्ट्रीपन। महाराष्ट्रीका प्रभाव साहित्यमें पीछे पीछे अधिकाधिक पडता गया है। उदाहरणकेलिये प्रस्तुत ग्रंथ की गाथा नं. २०३ लीजिये जो यहां इस प्रकार पाई जाती है -

रुसदि णिंददि अण्णे दूसदि बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।

असुयदि परिभवदि परं पसंसदि अप्पयं बहुसो ॥

इसी गाथाने गोम्मटसार ( जीवकांड ५१२ ) में यह रूप धारण कर लिया है ---

रुसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।

असुयइ परिभवइ परं पसंसए अप्पयं बहुसो ॥

यहांकी गाथाओंका गोम्मटसारमें इस प्रकारका महाराष्ट्री -परिवर्तन बहुत पाया जाता है। किन्तु कहीं कहीं ऐसा भी पाया जाता है कि जहां इस ग्रंथमें महाराष्ट्रीपन है वहां गोम्मटसारमें शौरसेनीपन स्थिर है। यथा, गाथा २०७ में यहां 'खमइ बहुअं हि' है वहां गो. जी. ५१६ में 'खमदि बहुगं पि' पाया जाता है। गाथा २१० में यहां 'एय-णिगोद' है, किन्तु गोम्मटसार १९६ में उसी जगह 'एग-णिगोद' है। ऐसे स्थलोंपर गोम्मटसारमें प्राचीन पाठ रक्षित रह गया प्रतीत होता है। इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि ये ग्रंथ प्राचीन ग्रंथोंकी पुरानी हस्तलिखिते प्रतीत होते हैं। इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन ग्रंथोंकी पुरानी हस्तलिखित प्रतियोंकी सावधानीसे परीक्षा न की जाय और यथेष्ट उदाहरण सन्मुख उपस्थित न हों तबतक इनकी भाषाकेविषयमें निश्चयतः कुछ कहना अनुचित है।

टीका का प्राकृत गद्य प्रौढ, मुहावरेदार और विषयके अनुसार संस्कृतकी तर्कशैलीसे प्रभावित है। सन्धि और समासोंका भी यथास्थान बाहुल्य है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि सूत्र-ग्रंथोंको या स्फुट छोटी मोटी खंड रचनाओंको छोड़कर दिगम्बर साहित्यमें अभीतक यही एक ग्रंथ ऐसा प्रकाशित हो रहा है जिसमें साहित्यिक प्राकृत गद्य पाया जाता है। अभी इस गद्यका बहुत बड़ा भाग आगे प्रकाशित होनेवाला है। अतः ज्यों ज्यों वह साहित्य सामने आता जाएगा त्यों त्यों इस प्राकृतकेस्वरूपपर अधिकाधिक प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाएगा।

इसी कारण ग्रंथकी संस्कृत भाषाकेविषयमें भी अभी हम विशेष कुछ नहीं लिखते। केवल इतना सूचित कर देना पर्याप्त समझते हैं कि ग्रंथकी संस्कृत शैली अत्यन्त प्रौढ, सुपरिमर्जित और न्यायशास्त्रकेग्रंथोंकेअनुरूप है। हम अपने पाठ-संशोधन केनियमोंमें कह आये हैं कि प्रस्तुत ग्रंथमें अरिहंतः शब्द अनेकबार आया है और उसकी निरुक्ति भी अरिहननाद् अरिहंतः आदि की गई है। संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार हमें यह रूप विचारणीय ज्ञात हुआ। अर्ह धातुसे बना अर्हत् होता है और उसके एकवचन व बहुवचनके रूप क्रमशः अर्हन् और अर्हन्तः होते हैं। यदि अरि + हन् से कर्तावाचक रूप बनाया जाय तो अरिहन्त् होगा जिसके कर्ता एकवचन व बहुवचन रूप अरिहन्ता और अरिहन्तारः होना चाहिये। चूंकि यहां व्युत्पत्तिमें अरिहननात् कहा गया है अतः अर्हन् व अर्हन्तः शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता। हमने प्रस्तुत ग्रंथमें अरिहन्ता कर दिया है,

किन्तु है यह प्रश्न विचारणीय कि संस्कृतमें अरिहन्तः जैसा रूप रखना चाहिये या नहीं । यदि हम हन् धातुसे बना हुआ 'अरिहा ' शब्द ग्रहण करें और पाणिनि के 'मघवा बहुलम्' सूत्रका इस शब्दपर भी अधिकार चलावें तो बहुवचनमें अरिहन्तः हो सकता है । संस्कृतभाषा की प्रगतिके अनुसार यह भी असंभव नहीं है कि यह अकारान्त शब्द अर्हत् के प्राकृत रूप अरहंत, अरिहंत, अरुहंत परसे ही संस्कृतमें रुढ हो गया हो । विद्वानोंका मत है कि गोविन्द शब्द संस्कृतके गोपेन्द्र का प्राकृत रूप है१ ( 1 Keith : History of Sans. Lit., p. 24. ) । किन्तु पीछे से संस्कृतमें भी वह रुढ हो गया और उसीकी व्युत्पत्ति संस्कृतमें दी जाने लगी । उस अवस्थामें अरिहन्तः शब्द अकारान्त जैन संस्कृतमें रुढ माना जा सकता है । वैयाकरणोंको इसका विचार करना चाहिये ।